भीड़ में भद्रता

प्रफुल्ल कोलख्यान

मैंने देखा था, बंगाल के सार्वजनिक जीवन में अपरिचित अन्य पुरूष को भद्रलोक या भद्रमहिला कहा जाता है। इसे ठीक बांग्ला उच्चारण के साथ कहें तो भद्रोलोक या भद्रोमहिला कह सकते हैं। भद्रता के अपने अर्थ हैं। और ये अर्थ बंगाल लोक व्यवहार में बहुत हद तक अभी कायम हैं। क्रोध और करूणा दोनो में भद्र-भाव बचा हुआ है। सामान्यत: तर्क और संघर्ष में भी। लेकिन देश दुनिया में आ रहे बदलाव के असर में इस भद्रता के बदलते हुए स्वरूप को देखते हुए इसके विलुप्त हो जाने का खतरा भी सहज ही परिलक्षित हो जाता है। पहले साधारण आदमी भी यह सहज ही समझ सकता था कि अ-कारण यहाँ कोई बदमाश सरीखा दीखने या उसकी प्रतीति कराने से बचता है। यहाँ के बदमाश भी धरती धमक तेवर से बचते थे। रात के अंधेरे और दिन के उजाले का फर्क कुछ-न-कुछ बचा हुआ था। शहर कलकत्ता का मिजाज घड़ी की सूइयों के हिसाब से बदलता अवश्य रहता था।

भीड़ चाहे जितनी हो, सामान्यत: महिलाओं और बच्चों को उसके दबाव से बचाकर चलने की कोशिश करते हुए लोग सहज ही देखे जा सकते थे। नवागंतुकों खासकर दूसरे महानगरों से आनेवाले नवागंतुकों को इस तरह की कोशिश काफी प्रभावित भी करती थी। इस तरह का आचरण होते हुए देखना भी अपनेआप में स्फूर्त्तिदायक और जीवन के प्रति आस्थावान बने रहने के लिए प्रेरक हुआ करता है। ऐसा नहीं कि इन जीवनानुभवों का कोई अपवाद यहाँ तब दीखता ही न रहा हो। लेकिन ये सचमुच में अपवाद ही हुआ करते थे। ऐसे अपवाद जो नियम की प्रभावशीलता को चुनौती देने का साहस नहीं किया करते हैं। एक दूसरे को बर्दाश्त करते हुए मंजिल की ओर बढ़ते बस यात्री, कुढ़ते सहयात्री को अधिक-से-अधिक टैक्सी से यात्रा करने की सलाह दिया करते थे। अन्य यात्रियों की आम सहानुभूति बर्दाश्त करते हुए यात्रा करनेवाले साथी यात्री के ही प्रति हुआ करती थी। इस तरह की सहानुभूति का असर यह हुआ करता है कि लोगों के मन में सहिष्णुता का भाव दृढ़तापूर्वक सक्रिय बना

रहता था। कभी-कभार तकरार की भी नौबत आ ही जाती थी और बाकी यात्री इसे मन पर पड़नेवाले किसी इतर दबाव के उत्सर्जन के ही रूप में लेते थे। इस प्रकार के दबाव उत्सर्जन का अवसर भी भरपूर देते थे और उसमें रस भी लेते थे। भीड़ रस। गंतव्य तक सकुशल पहुँचकर एक प्रकार की आश्वस्ति का एहसास भी जगता था।

लाइन लगकर अपनी बारी का ईमानदारीपूर्वक इंतजार करते हुए और अपने क्रम को किसी भी विक्रमी के पराक्रम के किसी भी प्रकार के आशंकित अतिक्रमण से बचाये रखकर अभीष्ट को हासिल करने के सुख का आकषर्ण एक तरह के चारित्रिक मूल्य का गठन किया करता था। यह सुख तब और भी बड़ा हो जाता था जब अभीष्ट वस्तु कोई किताब या खाद्य सामग्री हो। बाहर से खासकर ग्रामीण क्षेत्र से आनेवाला कोई भी साधारण आदमी इस लाइन-संस्कृति से चमत्कृत अगर नहीं भी तो अभिभूत जरूर हो जाया करता था। लेकिन, आदमी अगर रूतवेवाला हो तो वह इस लाइन-संस्कृति से बौखलाता भी कम नहीं था। इसे अपनी शान में गुस्ताखी मानता था। फिर भी, अपनी बारी के आने का धैर्यपूर्वक इंतजार संस्कारी होने का प्रमाण था तो अपनी बारी को निर्विध्न बनाये रखने की तत्परता जुझारू तथा सावधान होने का। अपवाद यहाँ भी थे और वे निश्चित रूप से अपवाद ही थे।

पूरे भारत की आबादी में इधर तेजी से इजाफा हुआ है तो जाहिर है भीड़ भी बढ़ी है। माँग भी बढी है। लाइन भी लंबी हुई है। बारी के आने तक अभीष्ट के उपलब्ध रहने का विश्वास भी कम हुआ है। अवसर कमतर हुए हैं। निराशा बढ़ी है। बेचैनी बढ़ी है। सपने अस्त-व्यस्तत हो गये हैं। संवेदना के संतोष-संकाय में भारी उथल-पुथल मची हुई है। पहले भीड़ में भी एक प्रकार के अभासी ही सही समाज के आकार लेने का अवसर दीखता था और अब तो समाज में भी एक प्रकार की आभासी भीड़ का वर्चस्व बढ़ता हुआ प्रतीत होता है। इसलिए भीड़ में वह भद्रता नहीं रही। भीड़ में भद्रता की जगह अब धरे-धीरे परपीड़कता बढ़ रही है। अब किसी बाल-वृद्ध-असहाय की सहायता के लिए किसी जवान, सक्षम का स्वेच्छा से आगे आना महानगर में एक दुर्लभ दृश्य है। पहले भी शरीरिक रूप से विकलांग लोग बस में लोकल ट्रेन में सफर किया काते थे। बसों में उनके लिए कोई सीट आरक्षित नहीं हुआ करती थी। जिस किसी सीट के सामने वे खड़े हो जाते थे उस सीट के आस-पास बैठा यात्री अपने-आप उठकर उनके लिए बैठने की जगह बना दिया करता था। यदि किसी कारण से ऐसा नहीं होता था तो अन्य लोगों के हल्के-से हस्तक्षेप से उनके लिए सुविधा कर दी जाती थी। अब विकलांगों के लिए सीट सुरक्षित कर दी गयी है, बुजुर्गों के लिए भी। उस दिन का दृश्य देखकर मैं दंग रह गया। जब प्रत्यक्षत: विकलांग व्यक्ति को इस प्रकार के आरक्षित सीट पर बैठने देने के लिए पहले से बैठे सामान्य यात्री ने जगह खाली करने से इनकार कर दिया। कारण उसके पास वह कागज नहीं था जो उसे आरक्षित सीट का अधिकारी

साबित करता और उसकी साफ दीख रही विकलांगता को वह अपनी सुविधा बनाये रखने के लिए अपर्याप्त और अस्वीकार्य बता रहा था। उसके अनुनय-विनय का कोई असर उस पर नहीं हुआ और जिस कागज का असर शायद होता वह उसके पास किसी दुस्संयोग से था नहीं। किसी दूसरे यात्री ने उसकी कोई खास मदद की नहीं। एक-दो लोगों ने हल्के स्वर में कुछ कहना भी चाहा तो उसे अन्य यात्रियों का कोई कारगर समर्थन हासिल नहीं हुआ। कंडक्टर इस मामले में अपनी किसी प्रकार की कोई भूमिका मानने को तैयार नहीं था। किसी अन्य यात्री ने भी अपनी सीट देने का प्रस्ताव कर मामले को संवेदन शून्य होने से बचाने का कोई प्रयास नहीं किया।

हावड़ा से पार्कस्ट्रीट आने में दस मिनट का समय लगा विकलांगों के लिए आरक्षित सीट पर बैठे यात्री समेत कई यात्री उतर गये। मैं भी उतर गया। मन में एक गहरा अवसाद लिए कि भीड़ में अगर इतनी भी भद्रता सहयात्रियों में नहीं बची रह जायेगी तो कमजोर, बूढ़े, बच्चे और लाचार किस प्रकार इस नयी सभ्यता में सहयात्री बन सकेंगे? आनेवाला या कहिये आ चुका समय क्या कमजोरों को निर्ममता से रौंदता हुआ गुजरता रहेगा और कोई हल्की-सी भी सिहरन हममें नहीं होगी? क्या समय सचमुच इतना संवेदनहीन होकर सुरक्षित रह पायेगा? ये अपवाद ही हैं या समय के नये नियम, जिसमें आम आदमी के सार्वजनिक जीवन के व्यवहार की भद्रता खुद ही विकलांग होकर रह जायेगी और अंतत: संस्कृति की चौहद्दी से अंतिम रूप से बाहर जायेगी? कैसे बताऊँ कि मैंने ऐसा क्या देखा था!

सहानुभूति और सहिष्णुता शक्तिहीनों का तर्क है या सभ्यता के सह-अस्तित्व का सत्व है! कैसा होगा समय जब न विवेक बचेगा, न आनंद! सिर्फ सुख ही समय का सार होगा! और संतोष! विद्यापति ने जब गंगा को संबोधित करते हुए कृतज्ञतापूर्वक ‘बड़ सुख सार पाओल, तुअ तीरे’ कहा था, तो क्या कहा था!